अकेले कंठ की पुकार

अजितकुमार

●

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई इलाहाबाद पटना मद्रास

क्रम

राग जाएँ दिशाओं में बिखर,
पथ हो जाय उज्ज्वल,
और उस पल
इस धरा पर स्वर्ग का गन्धर्व आए उतर :
बस इतनी प्रतीक्षा मुझे भी है, तुम्हें भी है।

अकेले कंठ की पुकार

गीत जो मैंने रचे हैं
वे सुनाने को बचे हैं।

क्योंकि—
नूतन ज़िन्दगी लाने,
नई दुनिया बसाने के लिए
मेरा अकेला कंठ-स्वर काफ़ी नहीं है।
—इस तरह का भाव मुझको रोकता है।
शून्य, निर्जन पथ, अकेलापन :
सभी कुछ अजनबी बन—
मुखरता मेरी न सुनता
—टोकता है।

इसलिए मुझको न पथ के बीच छोड़ो
बेरुख़ी से मुँह न मोड़ो,
हो न जाऊँ बेसहारे,
इसलिए तुम भूलकर वैषम्य सारे—
ताल-सुर-लय का नया सम्बन्ध जोड़ो।
ओ प्रगतिपन्थी! ज़रा अपने क़दम इस ओर मोड़ो

राग आलापो, बजाओ साज़,
कुछ ऊँची करो आवाज़—
मेरा साथ दो।
यह दोस्ती का हाथ लो!

फिर मैं तुम्हारे गीत गाऊँ,
और तुम मेरे :
कि जिससे रात जल्दी कट सके,
यह रास्ता कुछ घट सके।

हम जानते हैं :
विहग-दल तक साथ देंगे
भोर होते ही, उजेरे . . . मुँहअँधेरे।

दो बातें और एक तर्क

मानता हूँ :
हर नया गाना सदा सस्वर नहीं होता,
अनश्वर भी नहीं होता—
अभी उमड़ा, घिरा, गूँजा, मिटा तत्काल,
जैसे बुलबुले . . सपने . . घिरौंदे . . इन्द्रजा . . ल।

इस तरह के गीत अपनाना,
सुनाना दूसरों को और ख़ुद गाना—
तुम्हें अच्छा नहीं मालूम होता, किन्तु
यह सोचो कि जो तुमने सुने थे गीत,
जिनके रचे जाने, गुनगुनाने की क्रिया में
गए कितने कल्प, युग, पल बीत :
वे भी तो नए थे एक दिन
ताज़े, कुँवारे फूल की ही भाँति !
तुमने था गले उनको लगाया, और
दुलराया, सजाया, हार प्राणों का बनाया,
नहीं ठुकराया, हुए यद्यपि मलिन वे गीत।

और फिर यह आज का गाना कि
महफ़िल भी जमी है,
ताल, सुर, लय है, हर इक शै है,
नहीं कोई कमी है।
सिर्फ़ इतना है कि तुम भी

बीच में टूटी हुई झंकार को जोड़ो,
अधूरा राग मत छोड़ो,
कि तुम भी गुनगुनाओ,
बीच में आवाज़ यदि डूबे, उसे ऊपर उठाओ :
राग जाएँ दिशाओं में बिखर,
पथ हो जाय उज्ज्वल,
और उस पल
इस धरा पर स्वर्ग का गन्धर्व आए उतर :
बस इतनी प्रतीक्षा मुझे भी है, तुम्हें भी है।

और फिर यह बात भी सच है कि
ईश्वर का ठिकाना कुछ नहीं :
कब, किस दुखी अन्धे भिखारी, या पुजारी, या
बिचारी दीन बुढ़िया का रचाए वेश।
उस बहुरूपिए भगवान के अस्तित्व से अनभिज्ञ रहकर
हम न जाने किस समय, किस तरह आएँ पेश :
यह भय है।

इसीसे तो मुझे यह याद आता है कि
जब भी, जहाँ भी कोई नया स्वर गुनगुनाता है,
पुराना कंठ, पहले का सुना संगीत,
बीता राग, लय विपरीत,
सबका सब अचानक भूल जाता है।
नए स्वर से लगा लूँ नेह,
बिसरा कर सकल सन्देह :
ऐसा भाव मन में आ समाता है :

कि शायद 'यही' नवयुग का मसीहा हो।

ब्याह की शाम

ब्याह की यह शाम,
आधी रात को भाँवर पडेंगी।
आज तो रो लो तनिक, सखि !

गूँजती हैं ढोलकें–
औ' तेज़ स्वर में चीख़ते-से हैं ख़ुशी के गीत।
बन्द आँखों को किए चुपचाप,
सोचती होगी कि आएँगे नयन के मीत।
सज रहे होंगे अधर पर हास,
उठ रहे होंगे हृदय में आश औ' विश्वास के आधार।
नाचते होंगे पलक पर–
दो दिनों के बाद के–आलिंगनों के, चुम्बनों के वे सतत व्यापार
ज़िन्दगी के घोर अनियम में, अनिश्चय में
नहीं हैं मानते जो हार।

किन्तु संध्या की उदासी मिट नहीं पाती,
बजें कितने ख़ुशी के गीत।
और जीवन के अनिश्चय बन न पाते कभी निश्चय,
हाय ! क्रम इस ज़िन्दगी के–साध के विपरीत।

साँवली इस शाम की परछाइयाँ कुछ देर में
आकाश पर तारे जड़ेंगी,
अश्रुओं के तारकों को तुम सँजो लो।
आज तो रो लो तनिक सखि,

ब्याह की यह शाम,
आधी रात को भाँवर पड़ेंगी।

किसी सूनी कोठरी में बैठकर तुम,
दो क्षणों को ध्यान प्रिय का छोड़—
व्यस्त घर के शोर औ' हलचल भरे
वातावरण में डूब जाओगी
मनोरम स्वप्न-गढ़ को तोड़।
लोकलज्जा से बँधा तन, रोक देगा पथ तुम्हारा,
काम करने को बढ़ेंगे चपल चरण अधीर।
तुम सिमटकर अनमनी-सी बैठ जाओगी,
घुलाती मोद के वातावरण में एक बेसुध पीर!

द्वार पर बजती हुई शहनाइयों की गूँज भी मिट जायगी
उस शाम के बढ़ते अँधेरे में, अकेली कोठरी में,
कौन जाने किन दिनों की बात तुमको घेर लेगी।
चित्र बीती ज़िन्दगी के,
या विहँसती भाँवरों की रात के, सौ बार नाचेंगे।
कि दुनिया प्यार की अनजान रंगों में सजेगी।

शाम की ख़ामोश छायाएँ—
कँकरियाँ बन पलक में आ गड़ेंगी!
चलो उठ कर आँख तो धो लो तनिक, सखि!
आज तो रो लो तनिक, सखि!
ब्याह की यह शाम,
आधी रात को भाँवर पड़ेंगी।

फ़ैन्टेज़ी

एक सपना आँख में झलका :
कहीं पर ढोल-ताशे और शहनाई बजे
आवाज़ जैसे सिमटकर भर गई मेरे कान में,
आँसुओं से बनी, दुख के देश की लज्जावती रानी,
थिरकँकर किसी तारे से उतर आई बड़े अनजान में ।

जगमगाता-सा अतीन्द्रिय रूप, स्वप्नों से रँगे परिधान,
वह अज्ञातनामा राजकन्या प्राण में घिरने लगी,
एक मंडप में, अपरिचित वेद-मन्त्रों बीच
गठबंधन किए, छाया-सरीखी, भाँवरें फिरने लगी ।

बढ़ा सपना :
बजी शहनाई, अगिनती वाद्य गूँजे,
रूपसी की बाँह मेरी बाँह में, फिर, दी गई,
स्वजन छायाओं-सरीखे बढ़े, मुझसे लगे कहने :
आँसुओं के देश जा, तेरी बिदाई की गई ।

शुभ्रवसना वधू आगे चली, पीछे मैं विमोहित-सा,
नगर, पथ, विजन, वन, सब छोड़ता, बढ़ता गया;
बढ़ा कोहरा, राजकन्या खो गई, छाया अँधेरा
मैं शिलाओं-पत्थरों पर दूर तक चढ़ता गया ।. . .

एक पर्वत के हिमाच्छादित शिखर पर मैं खड़ा,
नीचे अतल सागर उफनता औ' हिलोरें मारता,

रह गया मैं चीख से अपनी, गुफाओं-कंदराओं में
बसे निर्दय, अदर्शित शून्य को गुंजारता . . .

फिर : अचानक प्रियतमा मेरी, गरजते अतल जल से,
जलपरी जैसी उभरकर पास मेरे आ गई,
बाँह में भरकर, मुझे भी साथ लेकर, होंठ पर
रख होंठ, फिर से लहर बीच समा गई . . .

मेरी प्रिया

वे जो दूर टिमकते हैं दो दीप से
आँखों का झँपना है मेरी प्रिया का।
वह जो दमक रही है पल-पल दामिनी
प्रेयसि की स्मिति उसे मानता है हृदय।
मेघों का मृदु-मन्थर गति से तैरना
गजगामिनी प्रिया का मादक गमन है।
मुझको प्रतिक्षण घेरे है आकाश जो
यह तो, यही, यही तो मेरी प्रिया है।

सुबह की तस्वीरें

१

सुबह चिड़ियों के मधुर स्वर गूँजते हैं।

और पंडित जी नहा-धोकर,
बड़े ही मग्न होकर
लगा आसन, भागवत-गीता उठाकर
पाठ करते,
कृष्ण-राधा की कथा गाते हुए
अति भक्ति-विह्वल जान पड़ते,
और अपनी तान पर, लय पर
स्वयं ही ऊँघते हैं।

देवता आकाश के
यह देखकर अभिमान से भरते
कि धरती के मनुज उनको अभी तक पूजते हैं,
किन्तु बेचारे नहीं यह जान पाते—
आज का इंसान ख़ुद को पूजता है,
और जो सच्चे पुजारी
देवताओं के, प्रकृति के—
बच गए हैं :
वे वही हैं जो
बड़े तड़के मधुर पावन स्वरों में,

वनों में, पथ में, जगत भर में
विहग-दल कूजते हैं ।

सुबह चिड़ियों के मधुर स्वर गूँजते हैं ।

२

सुबह फूलों की महक जग में बिखरती ।

सैर को निकले हुओं का हृदय हरती ।
—लड़कियाँ, लड़के, बड़े, बूढ़े, जवान,
लम्बे-तगड़े, छोटे-बौने, पहलवान,
प्रेमिकाएँ, पड़ोसी, अफ़सर, कि हों अनजान,
भिखारी के भेस में फिरते हुए भगवान—
सभीमें उठती ख़ुशी की एक तान,
गूँजता सबमें ख़ुशी का एक गान !

बस, तभी अज्ञात-सी कोई लहर आती
सभीके कूल मन के भीग जाते,
पुलक की बूँदें छहरतीं,
घास पर ठिठके हुए जलबिन्दु :
पहले काँपते, फिर :
मुस्कराकर भूमि में अस्तित्व खो देते :
हवा जग में मदिर मधु-गन्ध का संचार करती,
और लगता—
साँस मानो ले रही है :
पेड़-पौदों, फूल-पत्तों, किरनपाशों
में बँधी ख़ामोश धरती !

सुबह फूलों की महक जग में बिखरती ।

रास्ते में मिल गए जो,
शुष्क मन की रेत पर ही खिल गए जो,
साँस के पथ से समाए प्राण में जो,
स्वर बने—
औ' हो गए इस ज़िंदगी के त्राण-से जो—
वही मनचाहे, सजीले राग
उठते जाग :
प्रातः के पवन में सुन खगों के बोल,
या फिर सूँघकर ख़ुशबू गुलाबों की बड़ी अनमोल।

चाँद-तारों की बिदा के आँसुओं की सजल बेला...
नील नभ पर सिर्फ़ है सूरज अकेला
और धरती पर अगिनती मनुज
अलसाए, उनींदे, ऊँघते, सोते, बदलते करवटें, या
उठे, बैठे, टहलते—ज्यों नींद के बादल फटें,
या कर रहे होते प्रतीक्षा
सामने के पम्प से भरकर घड़े लड़के हटें।

उस तरफ़ के किसी घर से धुँआ उठता...
चीख़ते बच्चे, सुलगती लकड़ियाँ, बरतन खड़कते।
मिलों के भोंपू चिघरते।
खलबली मचती छतों-खपरैल-छप्पर के तले।
रेल, मोटर, ट्राम, इक्के बाँधकर ताँता चले।

जागते सब...
जागता वह मन कि जो मोहित हुआ-सा

भटकता निशि के अँधेरे में, अजानी घाटियों में,
मुक्त नभ में,
तारकों के बीच, परियों के सदन में :
खोजता सपने, सजल अनुभूति के छन ।
जागता वह मन
प्रभाती के स्वरों से,
परस करती ज्योति के स्वर्णिम करों से,
देखता सब ओर फैला हुआ जीवन,
साँस-सा लेता हुआ प्रत्येक रजकन,
और उसको सभी मन के मीत लगते,
जबकि भूले और बिसरे गीत जगते ।

सुबह भूले और बिसरे गीत जगते ।

झाँकियाँ

जिसका भी जी चाहे कह ले
—ऐसे नहीं कभी थे पहले :
खेत सुनहले !

अंगराग बन गई कि जो थी अबतक धूल,
नाच रहे जैसे पहने रंगीन दुकूल :
नीले फूल !

इतनी ताज़ी जैसे अभी उगी कल-परसों,
मन में बसी रहेगी जाने कितने बरसों :
पीली सरसों !

मेरी और तुम्हारी क्या, बौराए साधू और महन्त,
होठों पर उभरे सेनापति और प्रसाद, निराला, पन्त :
स्वागत हे ऋतुराज वसन्त !

मेले में

मैं इस दुनिया में वैसा ही खुश हूँ,
जैसे : मेले में छोटा बच्चा हूँ ।

इस बच्चे ने मिट्टी की मूरत को,
मैंने हर चलती-फिरती सूरत को,
उत्सुकता से, हैरत से देखा है ।
फिर हमने : यानी मैं औ' मेरे बाहर-भीतर के
उस छोटे-नन्हे बच्चे ने :
हम दोनों ने
अपने से ज़्यादा उसको माना है ।
अपने ढँग से जाना-पहचाना है ।

यों : ऐसा हुआ कि नक़ली फूलों को
मेले में जाकर फूले बच्चे ने
असली से भी कुछ बढ़कर जाना है,
यों : हुआ कि गैस-भरे गुब्बारे को
सपनों का, परियों का घर माना है–
अब झूठा हो तो हो
मैं तो उसको भी माने बैठा सच्चा हूँ ।
हाँ, कहा न मैंने–मेले में आया हूँ, बच्चा हूँ ।

देखिए मुझे –कैसा हूँ,
दुनिया के मेले में हूँ,
आती-जाती भीड़ों में, धक्कों में

रेले में हूँ,
मैं धक्के पाकर खुश हूँ,
ठोकर खाकर हँसता हूँ,
ज़्यादा से ज़्यादा भीड़ देखता हूँ—
जा धँसता हूँ ।
सम्मुख होकर जो भी आया है, और गया भी है,
बाँधा है उसने मुझको, वह हर बार नया भी है।
मैं चकित-भ्रमित हो आँखें फाड़े देखे लेता हूँ,
भीतर का सब उल्लास-लास देता हूँ, देता हूँ . . .
यह जीवन मुझको हर्षित करता है,
मानें : बेहद आकर्षित करता है ।

मामूली खेल-तमाशों में खोया रह जाता हूँ,
कुछ गाता हूँ—
टूटे-फूटे स्वर में कुछ गाता हूँ—
क्या जाने कब की सुनी हुई लय को दुहराता हूँ;
इस प्रौढ़, परिष्कृत, सभ्य, सुसंस्कृत
जलसे में, संभव है, कच्चा हूँ ।
फिर कहता—दुनिया के मेले में केवल बच्चा हूँ ।
इसलिए बहुत खुश हूँ,
सच मानें : बहुत-बहुत खुश हूँ ।

एक विदेशी कविता

सुनिए जी !
आपको मिनट दो मिनट की फ़ुर्सत तो होगी ही,
रुकिए, न हो तो एक कविता सुने जाइए,
जाने क्यों आज है उमड़-घुमड़ रहा
भाव यह शायद एक रूसी कविता का है,
संभव है फ्रेंच या किसी अन्य भाषा का हो;
मैंने तो इसे अंग्रेज़ी में पढ़ा था ।
यों भी हमलोग इसी माध्यम से सारा विश्व-साहित्य पढ़ते हैं ।
देता हूँ ज़ोर मैं काफ़ी दिमाग़ पर,
लेकिन कवि का नाम स्मरण ही नहीं आता,
कुछ शापाँ, या सिडनी, या जाने वह क्या था—
इन लोगों के नाम कुछ अटपटे होते ही हैं,
कोशिश कीजिए हज़ार, दिमाग़ में ठहरते ही नहीं ।
ख़ैर जी !
हमारे यहाँ की पुरानी उक्ति है :
मतलब आम खाने से या पेड़ों को गिनने से,
आप यह भाव सुनें, देखें कितना ऊँचा है :

"आसमान से शाम बरफ़ की तरह गिर रही है,
वैसी ही शीतल, निस्तब्ध और भावपूर्ण ।
अन्तर केवल इतना है
कि धरती पर छानेवाली बरफ़
मरियम की पवित्रता की भाँति धवल है,

और फ़्लैटों, बँगलों, बिल्डिगों में बसनेवाली संध्या है—
शैतान के अन्तर में स्थित कलुषता की भाँति काली।
दूर या निकट कहीं भी पक्षियों के गीत नहीं गूँजते,
चीन की एक कहानी है कि—
नक़ली बुलबुल जब चहकने लगा तो
असली बुलबुल चुप हो गया।
तभी तो गिर्जाघरों में मंद-मधुर घंटियाँ बज रही हैं।
आज रविवार तो है नहीं, आख़िर बात क्या है ?
कहीं सृष्टि का अंतिम दिन—
न्याय का दिवस तो नहीं आ पहुँचा!
बहुत ख़ूब ! कैसी अनहोनी सपनों की-सी बात है।
ईश्वर और उनका बेटा और उनके दूत और प्रतिनिधि
कौन जानता है कहाँ सो रहे हैं।
न्याय का दिन आने में शताब्दियों की देर है।
अरे, किसने अभी कहा कि—
ईश्वर के बूते कुछ हो नहीं सकता;
अब तो धरती पर बसनेवाली लाखों-करोड़ों किरनें ही
न्याय का दिन लाएँगी।" . . .

अरे श्रीमान जी !
अभी-अभी सुना आपने एक गान जी !
आप जानते हैं यह कविता अंग्रेज़ की है,
रूप-रंग-बुद्धि सभीमें किसी तेज़ की है,
तभी तो हो गए आप इस क़दर बदहवास,
भूल गई सिट्टी, सब बिसर गया आसपास,
गईं झपक पलकें, और सिर लगा झूमने,
कहेंगे अभी 'फिर-फिर', उठेंगे क़लम चूमने,
अब मैं बता ही दूँ, आपसे छिपाना क्या !

यों भी गुप्त रखने से ही आना-जाना क्या !
यह तो ख़ुद मेरी ही अपनी कविता है,
यही अकिंचन इसका सृष्टा है, पिता है।
भाव और भाषा और शब्द सब मेरे हैं,
मेरे तन-मन को सब ओर से घेरे हैं !

कहिएगा नहीं, आपको कैसा धोखा दिया !

कैसे कहूँ

हर बात जो कही थी,
हर काम जो किया,
हर पीर जो सही थी,
हर नाम जो लिया...
कैसे कहूँ, अनामे !
हरएक में तुम्हीं थीं !
विपदा न कम रही थी,
संघर्ष में जिया।

प्रतीक्षारत

खिले अगणित फूल ।
कुछ ऋतुराज के चरणों तले
दूर्वादलों में और
कुछ शृंगार माथे का बने :
वृक्षों-लताओं के मुकुट जैसे पले ।
गन्धयुत, मधुमय धरित्री से
सितारों-विद्युतों से तने
नीलाकाश तक
अनगिनत साँचों में ढले
वे खिले अगणित फूल ।
(कुटिया में, महल में, या 'विजन-वन-वल्लरी पर' ।)

एक मैं हूँ :
स्वप्न-सर्जित, राग-चर्चित पुष्प,
आकुल, चिर-प्रतीक्षारत कि
मेरी पंखुरी की भाग्य-रेखा पर लिखा है
नाम जिनका,
वे अपरिचित देव
जो अब विफलताओं से पराजित हो रहे होंगे—
किसी अज्ञात पथ-निर्देश से संकेत पाकर
यहाँ आएँ,
मुझे देखें : देखते रह जायँ,
तोड़ें, सूँघ लें : मन में बसाकर गन्ध
मसलें : फेंक दें, बस !

आठ औरतें

जिनमें से एक ने प्रेम किया मुझसे
ज्यों बूँदों ने धरती से,
दूसरी ने घृणा जतलाई
जैसे बलिपशु ने बधिक से :
अन्तरतम से उद्भूत भावनाएँ !

तीसरी ने मन दिया मुझे
जैसे सुरभि ने पवन को,
चौथी ने तन देना चाहा
उर्वशी ने अर्जुन को ज्यों :
भक्ति-आसक्ति के परस्पर विरोधी अनुभव !

पाँचवीं ने मुझ पर सर्वस्व वार दिया
ज्यों शेफाली करती समर्पण हर सुबह,
और छठी ने मेरा सर्वस्व लेना चाहा
वामन ने बलि का जैसे :
मानव-विकारों के अद्भुत उदाहरण !

सातवीं उमड़ी मुझ तक
चाँद के प्रति लहरों के आवेग की भाँति,
आठवीं हटी मुझसे
पाप जैसे मन्दिर से :
जीवन के 'पल-पल परिवर्तित' व्यवहार !

बदला मैं,
जुड़ा और टूटा भी,
मिला और छूटा भी,
उठा और गिरा,
कभी मुक्त, कभी घिरा रहा
उन सबके कारण !

और वे सबकी सब–
आठों, दसों या बीसों :
केवल एक 'तुम' थीं ।

फैली बाँहें

फिर तुमने बाँहें फैला, आकाश तक
उड़ जाने की अभिलाषा मन में भरी,
फिर मैंने सोचा –शायद मैं पंख हूँ,
जो आ जाता काम, न यदि तुम त्यागतीं ।

त्यागे जाने पर तो अब असहाय हूँ ।

काश ! 'बाँह फैली' बन पातीं पंख ही :
वे, जो मुझे बाँधने में असमर्थ थीं !!!

सुनो

यहाँ से पथ मुड़ जाएगा ।
        इधर घूमेगा, फिर उस ओर
        खोजने को पृथ्वी का छोर
        बड़ी ही मंज़िल नापेगा ।
और कहते हैं–
आख़िर में यहीं वापस उड़ आएगा ।...
उन्हें कहने दो–
जो वे कहें ।
चलो, चलते ही हम-तुम रहें ।

विधान

प्यास तो ऐसी लगी थी–
क्या समन्दर, क्या सितारे
सभी को पी लूँ;
कामना ऐसी जगी थी–
क्या हमारे, क्या तुम्हारे,
सभी क्षण जी लूँ;
किन्तु विधि के उन निषेधों,
उन विरोधों को कहूँ क्या–
जो विवश करते :
प्रीति जो मन में रँगी थी–
तोड़ डालूँ बिन-विचारे,
होंठ को सी लूँ ।

एक युग की स्वीकारोक्ति

तुमको संबोधित कर कितने ही गीत लिखे,
फूलों में, ऊषा में, कन-कन में छवि देखी,
हर समय तुम्हारे ही स्वप्नों में पागल हो
डूबा-उतराया, कभी नहीं विश्राम लिया !

बेसुध होकर मैं इधर-उधर भूला-भटका,
बदनाम हुआ जब गीत प्यार के दुहराए,
लेकिन सोते या जगते सिर्फ़ तुम्हारा ही
चिन्तन मेरे सारे जीवन का प्राण बना !

फिर एक दिवस आया जब यह मालूम हुआ
'तुम' तो कोई भी नहीं, कहीं भी नहीं रहीं,
'तुम' तो थीं केवल शून्य, मात्र मृग-छलना थीं :
वह वस्तु कि जिसका कहीं, कभी अस्तित्व न था !

यह जान पड़ा : 'तुमको' तो मैंने इसीलिए
सिरजा था, जिससे एक सहारा पास रहे,
बस उसी तरह जैसे अँधियारे में डरते
बच्चे के मन का भाव कि 'मुन्नी पास खड़ी ।'

इसलिए आज स्वीकार किए लेता हूँ मैं :
ओ दुनिया ! तुझको झूठ बताया था मैंने !
जिसको 'तुम' कहकर संबोधित था किया सदा
वह तो केवल मेरे मन की अभिलाषा थी !

एक सौंदर्यलुब्ध की आत्मकथा

बियाबान जंगल था,
उसके किनारे एक आलीशान महल था–
अनगिनत कँगूरे, कक्ष,
वैभव, कलाकारी दक्ष ।
मैंने जो देखा तो मुग्ध मन हो गया,
उसकी सुन्दरता में जीवन ही खो गया ।

सोचा : अब इसे छोड़ और भला जाऊँ कहाँ,
अच्छा है, निर्जन में रहूँ और गाऊँ यहाँ,
इतना ही नहीं, दिखे अन्य कई आकर्षण,
सुबह स्वर्ग-संगीत, शाम ढले मधु-वर्षण ।

महल के बीचोबीच शुभ्र पट्टिका भी थी,
मुझ जैसे कवि के हित मानो जीविका ही थी ।
रहा उस महल में और लिखा उस शिला पर,
स्वेद-रक्त-प्राण किए सब उसपर न्यौछावर,
निर्मित कीं अनेकानेक उत्तम कलाकृतियाँ. . .

किन्तु एक अशुभ घड़ी आई
भाग्यदेव रूठे,
देवी कला की रूठीं,
उलटे नक्षत्र, कालचक्र हुआ विपरीत,
शत्रु बनकर बोले वे, अबतक जो रहे थे मीत–
कलाकार ! अभिशाप साकार करो स्वीकार :

रहते थे जिसमें–रेतमहल हो जायगा।
लिखते थे जिसपर–बन जायगी वही, सुन लो !
: पानी की एक लहर।
और कलाकृतियाँ ?
: सब भग्नस्वप्न, नष्ट !
सब बुदबुद्, सब व्यर्थ !

एक विज्ञापन

सोचता हूँ—
गीत लिखने से कहीं अच्छा,
जुटा लूँ हर तरफ़ से क़ीमती सामान।
और जितने उपकरण हैं गीत के—
मन को भुलाने, और धन की, और
जन की फ़िक्र से पीछा छुड़ाने के—
युवतियाँ, प्रेम, आँसू, विरह, पीड़ा,
सेक्स की अवरुद्ध क्रीड़ा,
सुप्त मन में गड़ी फाँसें,
गरम या ठंडी उसाँसें और
सपने हार के या जीत के—
सबको क़रीने से सजाऊँ,
ढोल ज़ोरों से शहर भर में बजाऊँ,
छाप कर परचे—
गली-सड़कों-घरों में पहुँच जाऊँ—

"प्रेमियो, साहित्यिको, विक्षिप्त कवियो!
तम-भरे संसार के अनगिनत रवियो!
मुफ़्त ले जाओ यहाँ से माल खुदरा,
कुछ दिनों से गीत का बाज़ार उतरा
है, इसीसे भूल सारा मान या सम्मान
सोचा है कि अब इस तरफ़ दूँगा ध्यान—
मैंने खोल ली है शहर में साहित्य के परचून की दूकान,

जिसमें 'मसि' तथा 'कागद', 'कलम' से ले
'विचारों', 'भावनाओं', 'कल्पनाओं' तक
मिलेंगे हर किसिम, हर ढंग के सामान !
आए हैं समन्दर पार से 'लेटेस्ट मॉडल',
काव्य-बाला को सजाने के लिए
रंगीन आभूषन तथा परिधान ।
आएँ आप, देखें और परखें,
करेंगे मुझ पर बड़ा उपकार !
—अजितकुमार ।"

अपने देश का हाल

प्यार की बातें मना जिस देश में,
प्यार के गाने वहाँ सबसे अधिक ।
जहाँ पर बन्धन समाजिक बहुत हैं,
वहाँ के गायक-सुकवि ख़ासे रसिक ।
इश्किया अन्दाज़ में लिखते सभी,
जहाँ होने चाहिए थे कवि-श्रमिक ।

कलाकारों का संयुक्त वक्तव्य

नहीं कभी जागे ऊषा की स्वर्णिम वेला में
—नींद हमारी खुली हमेशा आठ बजे।
नहीं कभी घूमे उपवन में, नदियों के तट पर
—शामें बीतीं बहसें करते या लिखते-पढ़ते।

तितली के रंगों को हमने देखा नहीं कभी,
कोयल में, बुलबुल में कोई फ़र्क न कर पाए।
चातक और पपीहे के स्वर कानों में न पड़े
—स्वर भी, हम भी : सँकरी गलियों में भूले-भटके।

जाना नहीं कि सरसों का रँग कैसा होता है,
—जब वसन्त आया : हम जैसे अन्धे बने रहे।
सावन में फ़ुरसत ही पाई नहीं मिनट भर की
—घर की सीलन, छत की टपकन ने उलझा रक्खा।

सचमुच ! हम थे कितने झूठे, कैसे धोखेबाज़ !
कहते फिरे हमेशा जो सबसे—
'हमें बहुत प्रिय है सौन्दर्य !
सुन्दरता के लिए हमारा जीवन अर्पित है।'

'हम कुरूपता को धरती पर देख नहीं सकते,
हम सुन्दरता के प्रेमी हैं !'—
—ऐसा कहनेवाले हम थे कितने झूठे, कैसे धोखेबाज़

कवियों का विद्रोह

'चाँदनी चंदन सदृश' :
हम क्यों लिखें ?
मुख हमें कमलों-सरीखे
क्यों दिखें ?

हम लिखेंगे :
चाँदनी उस रुपये-सी है
कि जिसमें
चमक है, पर खनक ग़ायब है ।
हम कहेंगे ज़ोर से :
मुँह घर-अजायब है ।
(जहाँपर बेतुके, अनमोल, ज़िन्दा और मुर्दा
भाव रहते हैं ।)

जिज्ञासु की कथा

पूछताछ के दफ़्तर में
हम गए ।

वहाँ था काम यही
जो आए, पा जाए हरदम सूचना सही ।
हमने जो पूछा—सब जाना,
जो जाना उसको सच माना :

ऐसा सच—
जो व्यापित हो कल्पों में, युग में, संवत्सर में ।
हाँ, पूछताछ के दफ़्तर में
हम गए ।

हम जान गए—गाड़ी आती है सात बजे,
नौ . . दस . . ग्यारह बज गए
मगर गाड़ी का पता नहीं पाया ;
हम मान गए—दो-दो मिल चार बनाएँगे,
अरसे तक करते रहे
किन्तु, हमको वह प्रश्न नहीं आया :
अस्पष्ट भाव कुछ
व्यक्त किए हमने अपने कुंठित स्वर में !
जब पूछताछ के दफ़्तर में
हम गए ।

गए थे, वापस भी आए,
पूछते हो–'क्या-क्या लाए ?'
अरे, लाए क्या–बस, अनुभव,
और भी जिज्ञासाएँ नव,
कि जिनके समाधान सब भ्रान्त,
सभी कुछ मिथ्या से आक्रान्त,
प्रश्न अनगिनती, उत्तर एक,
और अपने मन की यह टेक :
भला होता
जो रहते अपने ही घर में !
आह ! क्यों ? पूछताछ के दफ़्तर में हम गए ?

अकेले तुम

अगर दिन रहता,
अचानक रात आ जाती।
न मैं इस तरह दुख सहता कि मानो :
प्राण पिंजरे में पड़े हों,
—द्वार हों उन्मुक्त,
सम्मुख हो गगन का मुक्त पारावार—
आकर्षण बड़े हों।
—किन्तु, पंखों के चरम अभ्यास,
चरणों के अतुल विश्वास
सबके सब वहीं जकड़े खड़े हों,
लौह-पिंजर के भयावह सींकचों से जा अड़े हों।

अगर दिन रहता
अचानक रात आ जाती...
—न मैं इस तरह दुख सहता।

किन्तु बैरिन साँझ आई—
विगत स्मृतियों की अशुभ प्रेतात्माएँ, और
मटमैले धुँधलके साथ लाईं,
अचानक जैसे सुलगने लगीं नम, गीली लकड़ियाँ,
धुआँ वैसा ही उठा : जैसे घरों से :
काटता चक्कर, लकीरें छोड़ता, गहरा, अनिश्चित,
हुआ मन कड़ुआ, डबाडब आँख भर आई।

झुटपुटे में कहीं थोड़ा-सा उजाला,
कहीं ज़्यादा-सा अँधेरा :
क्रूर, निर्दय दैत्य के आकार का घेरा बनाकर बढ़ा...
मुझको लगा जैसे
—प्राण पिंजरे में पड़े हैं, और
बाहर व्याघ्र, शूकर, श्वान,—
सुधियों, यातनाओं, दुखों के—
घेरे खड़े हैं।
ज़िन्दगी के साथ ज्यों अभिशाप के फेरे पड़े हैं।

तभी कोई एक पंछी
शाम की निस्तब्धता को तोड़ता,
अपने निशा-आवास को जाता हुआ बोला :
व्यर्थ ही यह सब तुम्हारा दुःख औ' अवसाद है,
शाम तो रंगीन है, मदहोश है, उन्माद है,
एक दिन ही नहीं, वह हर रोज़ आएगी,
तुम्हारे देखते : संसार पर सोना लुटाएगी।
घुटोगे तुम, पिसोगे तुम, रुकोगे तुम
—अकेले तुम।

न देगा साथ कोई पशु, न पक्षी और नर-नारी,
न देगा साथ कोई फूल, पत्थर, गीत, सपना—

बस, अकेले तुम, अकेले तुम...

मनहूस कमरा

चौक में चमक है,
सिविल लाइन्स सुहानी है,
पार्क में अनोखे फूल फूले हैं,
ख़ुशबू बिखरी है,
हवा में गीत घुले-मिले हैं...

सब कुछ है...और यह कमरा है !–
चार दीवारों में दो खिड़कियाँ,
एक दरवाज़ा और एक ही रोशनदान,
होने को तो यों वातायन काफ़ी हैं,
लेकिन हर समय यही ध्यान दिलाते हैं–
'देखो, यह कमरा है...
दरवाज़ा बन्द करो।
खिड़कियाँ मत खोलो।
सर्द हवा आकर फ़िज़ाँ में बस जायगी,
ठंड लग जायगी,
कम्बल समेट लो।
हाँ...अब किताब खोलो,
आसमान में उगे चाँद को मत देखो,
लाल-नीली पेंसिल हाथ में उठाओ,
चलो, किताब में निशान लगाओ'...

कमरे का यह शासन मुझे बेहद नापसन्द है !
ओह, यह कमरा

जिसकी फ़र्श पर धूल है,
कागज़ के फटे हुए पुरज़े हैं,
सुराही से गिरकर फैला हुआ पानी है,
एक कुरसी, एक मेज़, एक चारपाई के बारह पाए हैं—
तीनों चौपाए ये मुर्दा हैं !
ज़िन्दा सिर्फ़ मैं हूँ या वे थोड़े से
चींटे, मकड़ियाँ और मच्छर
जिनको इस कमरे ने परवरिश दी है;
एक झींगुर किसी कोने से रात में बोलता है।

छत पर मकड़ियों ने जाले लगाए हैं,
और यही वजह है कि
चाहते हुए भी मैं छत की कड़ियों को
कभी नहीं देख पाता हूँ—
कि कोई मकड़ी, कोई जाला ऊपर से गिरकर
कहीं आँख में न आ पड़े।

दीवारों की सफ़ेदी अब मैली हो चली है,
पपड़े हर रोज़ उखड़कर फ़र्श पर गिरते हैं,
मैला फ़र्श और भी गन्दा होता है।
खिड़कियों के शीशे शायद एक-दो बचे हैं,
बाक़ी चौखटों में दफ़्तियाँ जड़ दी गई हैं,
एक में टीन का पत्तर लगा है
जो तेज़ हवा चलने पर खड़-खड़ बजता है।

ऐसा यह फटेहाल, दीन-हीन, जर्जर,
चार दीवारों का तुच्छ, अकिंचन समूह
मुझपर शासन करे,
मेरे अन्तर के उद्वेगों का दमन करे !
यह मैं सह नहीं पाता।

मन में तो आता है कि
मार-मार घूँसे सारी दफ़्तियाँ फाड़ दूँ,
शीशों को चकनाचूर कर दूँ,
भड़भड़ाकर दरवाज़ा-खिड़कियाँ खोल दूँ,
कमसे कम एक तरफ़ की दीवार तोड़ दूँ :
खूब ज़ोरों से चीखूँ-चिल्लाऊँ,
शोर मचाऊँ।. . .

शान्त होकर—
सामने के गिरजाघर की मीनार देखा करूँ,
युकलिप्टस के पेड़ को देर तक निहारूँ,
मन को बादलों में भटकने को छोड़ दूँ !

लेकिन यह कमरा है—
इसका अनुशासन है,
बार-बार मुझको यह ध्यान दिलाता है :
'देखो. . .दरवाज़ा बन्द करो,
खिड़कियाँ. . .मत खोलो,
हाँ. . .अब किताब उठाओ,
ध्यान. . .छपे हुए अक्षरों में लगाओ,
चलो. . .लाल-नीली पेंसिल हाथ में उठाओ. . .'

और फिर
फीकी-फीकी विवश हँसी हँसकर
मैं सोचता हूँ
कि :
बाहर की हवा में गीत लहर लेते हैं,
भीतर मेरी साँस दीवार से टकराती है,
और
खुद मेरे ही पास लौट आती है. . .

व्याकुलता

व्याकुलता अब भी वैसी ही है।

अन्तर बस इतना है–

पहले वह होती थी रोज़-रोज़;
तब हर अन्यायी को खोज-खोज
लड़ने को मुट्ठी तन जाती थी।

और आज–

सुख-सुविधा की चिन्ता, कामकाज
में फँसकर
चार-छै महीनों में एक बार
होती है।

किन्तु आज भी है वह दुर्निवार।

अब भी मेरी आत्मा वैसे ही रोती है।

...

बाहर-भीतर

बाहर कितना शोर मचा है,
भीतर आती एक न आहट,
इसी मुक्ति के लिए
तुम्हारे मन में थी इतनी अकुलाहट !
अरे बन्धु ! यह तो कारा है,
दृढ़ प्राचीरें, द्वार अचल है;
और वहाँ जनघोष, क्रान्तियाँ !
और यहाँ...

किन्तु वह सितारा

भीगा आकाश,
बूँदें,
पेड़ नम,
रात के अँधेरे में
नभ अदृष्ट।
गीली धरती भी चुप,
मौन दिशा।
दीवारें तम की
सब ओर घिरीं।

किन्तु वह सितारा :
वह नन्ही-सी ज्योतिमान धारा :
वह तारा...
वह चमके ही जाता है,
बूँदों, अँधियारों के,
मौन के प्रहारों के
विरुद्ध !

वर्जना

शब्द मेरे गीत बन जाएँ, कथा का रूप धर लें,
नित्य के व्यवहार को अभिव्यक्ति दें या
शून्य में खो जायँ–
तो क्या हुआ !
        यह तो प्रकृति है उनकी, सहज है।

किन्तु मेरे शब्द ही यदि
तोड़कर धरती बना लें नींव
कर दें विलग उसको जो कि अबतक
एक ही भू-खंड था...
        और फिर प्रत्येक अक्षर
        ईंट बनकर
        जुड़े, ऊपर उठे औ'
        प्राचीर बन जाए
        बहुत ऊँची, अभेद्य, अपार :
मेरे औ' तुम्हारे बीच–
जैसे चीन की दीवार–
तो फिर ?

–मृत्यु की-सी यातना होगी मुझे !

शब्द उस प्राचीर को ही
बेधने के लिए निर्मित हुए हैं जो

घेरती है मन हमारा और जीवन भी :
विलग करती हमें है जो...

दो मुझे अभिशाप–
मेरे शब्द गूँजें नहीं,
बस, बाहर निकलकर नष्ट हो जाएँ,
अमरता के सुखों से रहें वंचित–
यदि कभी दीवार बनने के लिये आगे बढ़ें।

और चाहे जो करें
लेकिन विभाजक-रेख बनने के लिये तैयार मत हों,
स्वयं मेरे शब्द मेरी ज़िन्दगी को भार मत हों,
शब्द तो सम्बन्ध हैं : व्यवधान वे डालें नहीं।

विरत होओ

सृजन के क्षण से विरत होओ।
हमारे मित्र !
मन के भाव को परित्यक्ति दो !
उसको किसी ऊसर जगह में भी नहीं बोओ !

वह सृजन का क्षण तुम्हारा
बहुत कुछ तो अशुभ है
यानी कि 'पूरा शुभ नहीं है' :
इस तरह का मिले इंगित
तो नहीं रोओ !
मौन रहकर : बोझ सहकर
सृजन के क्षण से विरत होओ !

उस समय रचना करोगे
तो जगत का कष्ट तुम, सच : ना हरोगे।
और, संभव है कि : उलटे बढ़ाओगे !
बढ़ाने से बचो,
कुछ भी मत रचो !
और वह क्षण बीत जाने दो।
घिरा हो तुममें बहुत : सब रीत जाने दो।
उमड़-घुमड़न, कुहासा, या तड़प, अकुलाहट :
शून्य में, सुनसान में, आती हुई 'आहट' :
सभी खोओ !
सृजन के क्षण से विरत होओ !

हे हमारे ! बहुत प्यारे !
इन दिनों अकसर सृजन, संहार होता है,
एक का दुर्भाव सबपर भार होता है,
इसलिए दुर्भाव को रोको !
इसलिए हर भाव को प्रारंभ में टोको !

इसलिए, बस इसलिए–
हर सृजन के पल को नहीं मानो,
बल्कि उसकी सत्यता को खूब पहचानो।

सत्य को अभिव्यक्ति दो,
अपनी अकातर भक्ति दो।
लेकिन उसीको;

अन्यथा तुम सृजन के क्षण से विरत होओ !

काव्यानन्द

मूक रहने से तो
बेहतर है यही
कुछ ज़ोर से गाओ कि
वे भी सुनें जो चारों तरफ़ घेरे खड़े हैं।

यह नहीं अच्छा कि मन का राग मन में ही
दफ़न रह जाय।
अंकुर दो उसे :
फूटे, उठे, ऊपर चढ़े,
सब लोग छाया में खड़े हों और सुस्ताएँ,
थकन मेटें :
करें चर्चा प्रकृति की और
मानव की—

यही तो काव्य का आनन्द है।

घूरती हुई आँखें

रात थी अँधेरी और
भूतों की टोली !
पीपल के तले और
बेलों के झुरमुट में
देती थी फेरी !

'भूतों से क्या डरना !
आख़िर तो हम सबको मरना है,
और भला क्या करना !
हम जो कहलाते हैं भारत के पूत।
–हम भी तो होएँगे ऐसे ही भूत !'
इसी तरह सोच-सोच
हिम्मत बँधाई मैंने काँपते-से मन को।

और तभी कमरे के किसी एक कोने में
दिखीं मुझे बेधती-सी चमकदार आँखें !
काँपता-सा मन हुआ जैसे निस्पंद !
डर के मारे मैंने आँखें कीं बन्द !

बीत गए कई साल।...

लेकिन अब भी तो मेरा है वही हाल।
एक उसी घटना को पाता मैं नहीं भूल !
याद मुझे आती :
ज्यों आते थे याद वर्डस्वर्थ को डैफ़ोडिल फूल।

दीखतीं अँधेरे में हैं मुझको अब भी
चमकीली, तेज़, बेधतीं, सम्मोहन करतीं—
बिल्ली की दो आँखें ! . . .

अन्धकार पाप है। और
अज्ञान भी।
लेकिन जिसको भेदें बिल्ली की आँखें—
रहकर अँधेरे में भी, पाप क्या करेगा वह—
घूरती हुई आँखों की स्थिति का ज्ञानी !

आकाश स्थिर

और सब अस्थिर,
मगर आकाश सुस्थिर है।
अचिर सब है,
शून्य का, पर, भाव यह चिर है।
नभ असीम, अपार का
वैभव अदृष्ट, अमाप;
मनुज है ऊँचा बहुत,
पर यहाँ नतशिर है।

नींद में डूबे योद्धा सुरक्षित हैं

कौंधती उधर किरनें
लड़ने को आती हैं।
हम तो अप्रस्तुत हैं!

डूबे हैं नींद में,
खोए हैं स्वप्न में,
चेतन से परे ये हम
लीन हैं अचेतन में।
हम तो अप्रस्तुत हैं,
इसलिए सुरक्षित हैं।

आखिर हमसे क्या लेगा उजाला?
आखिर क्या कर लेंगी किरनें हमारा?
उनके पैने-तीखे तीर सभी व्यर्थ हैं!
होएँ हम किरणों से भले ही अपरिचित
पर ज्ञात है हमें तो–
वे गन्दी हैं, नीच और घृणित और कुत्सित हैं,
रखती अपेक्षा हैं नींद तोड़ने की वे!
दंभ-मात्र ही है यह!

जाओ अनुचरो, अरे निशि के अनुचरो!
कहो–
नहीं हैं अप्रस्तुत हम।
सज्जित हैं, रक्षित हैं, पालित हैं

—सुप्ति के कवच में।
यह राज्य हमारा है।
किरणों के चापों पर ध्यान नहीं देंगे हम
—स्वप्नों के अभयद कुंडलों से अलंकृत हैं।...

कितना ही कहो हमें— 'सूर्यपुत्र! सूर्यपुत्र!'
उसका पितृत्व यहाँ कौन स्वीकारता!
तुम्हीं हो असत्य-पक्ष, तुम्हीं दस्यु, अन्यायी!
धर्मयुद्ध को हम धर्मयुद्ध नहीं मानते!

हम तो हैं वीर कर्ण!
वीर कर्ण! —मूर्ख नहीं।
दान नहीं देंगे हम।
कवच और कुंडल हम कभी नहीं त्यागेंगे—
क्या मारे जाएँगे??

हम हैं कूटज्ञ कर्ण, धूर्त कर्ण, चतुर कर्ण :
दानी नहीं।
और यों सुरक्षित हैं उसके उजाले से
संभव है जिससे हम कभी कहीं जन्मे हों।

आभार-स्वीकार

'दर्द' तुमने कहा जिसको
और यों दुखती हुई रग जान ली
मैंने अभी तक सहा जिसको !
उसीको–
हाँ, छिपाने के लिए उसको
गीत गाए थे !
अधूरे और पूरे गीत गाए थे।

जान ही जब लिया तुमने
शेष और बचा भला क्या !
दर्द के अतिरिक्त हमने
सहा और रचा भला क्या !
कहीं कुछ भी नहीं :
केवल प्यास, केवल आग !
धब्बे, चिन्ह, बेबस दाग़ !
यही थे—
जिनको बहाने के लिए आँसू छिपाए थे।

तुम्हींने यह भी कहा था–
'मिटाने पर मिट न जाए
दर्द यह ऐसा नहीं है।
शर्त लेकिन एक है
उस दर्द में मत रमो।
देखो ! –

पाल खोलो, उठाओ लंगर !

चलो–

दुखती हुई रग के सदृश यह द्वीप त्यागो।'

तुम्हींने हमसे कहा था–

'अरे जागो !'

और उस कहने तथा

खुद भी बहुत सहने के कारन

मुक्ति की जब घड़ी आई–

स्वतः बन्दी बना था जिस द्वीप में

उससे विलग हो, पाल खोले

मुक्त नाविक ने

उधर. . .उस द्वीप को जाती लहर पर

पुष्प अंजलि से बहाए थे !

आज वह सब व्यक्त है

जिसको छिपाने के लिए. . .

छिपा देने के लिए सब गीत गाए थे।

आज सचमुच मुक्त है

जिसको बहाने के लिए. . .

बहा देने के लिए आँसू छिपाए थे।

आज तो वह त्यक्त है

वह दर्द भी : वह द्वीप भी. . .

वही जिस तक पुष्प अंजलि से बहाए थे !

उजड़े मेले में

कुछ तो वह अजब तमाशा था
कुछ हम भी थे ऐसे . . .
रह गए देखते, और
जान ही सके नहीं—
कब गुज़र गया सब
ख़त्म हुआ कैसे ! !

जब चेत हुआ तो क्या देखा
कुछ बिखरे-बिखराए कागज़,
कुछ टूटे-फूटे पात्र पड़े।
सारा मेला है उजड़ चुका,
बस, एक अकेले हमीं खड़े।

जिस जगह बड़ा-सा घेरा था,
केवल कुछ गड्ढे शेष रहे।
सुलगती लकड़ियाँ, राख और
मैले पन्ने, उतरे छिलके :

जो यही पूछते-से लगते—
'रे ! कौन यहाँ पर आया था ?
यह किसका रैन-बसेरा था ?

यह उजड़ा मेला
उखड़े हुए नशे जैसा,
सारे मोहक आकारों के सौ-सौ टुकड़े।

सब आकर्षक ध्वनियाँ– अब केवल 'भाँय-भाँय'।
रंगों के बदले– फीके, मटमैले धब्बे।

वह एक तमाशा था . . .

लेकिन
उलझी-सुलझी रस्सियाँ,
बाँस गाँठोंवाले।
कुम्हलाए हुए फूल-पत्ते।
सारे का सारा आस-पास,
जो दिखता है बेहद उदास :
यह भी तो एक तमाशा है।

उजड़े-बिखरे, टूटे-फूटे
की भी तो कोई भाषा है!

कीचड़ से भरी तलैया का गँदला पानी
चुपके-चुपके कहता-सा है–
'अधजली घास हरियाएगी . . .'

गँदले पानी को थपकी देती हुई हवा
कुछ राख उड़ाकर ले जाती,
कुछ धूल उड़ाकर ले आती :
अब
तिरछे-सीधे चरण-चिन्ह,
सब
गहरे, ठहरे, बड़े चिन्ह
धीरे-धीरे मिट जाएँगे!

लगने दो मेला और कहीं।

संक्रमण

चलते थे जिनपर
वे सड़कें भी मुड़ तुड़ कर
ख़तम हो गईं थीं,
सब आवाज़ें
कभी यहाँ, कभी वहाँ —थोड़ी या बहुत देर—
बोल : सो गईं थीं।

दोस्त
सुबह्-शाम, रात-रात भर
बातें कर : चुप थे,
अब रीते थे।
और अधिक मादकता, आकुलता, विह्वलता
जगा नहीं पाते थे दिन वे—
जो बीते थे।

हर क्षण जो बढ़ती थी
वही उमर कहीं, किसी जगह
रुक गई थी,
और रात—
पहाड़ी पर : कुछ घण्टों के ख़ातिर ? नहीं—
सदा-सर्वदा के लिए झुक गई थी।

पेड़ों-पौदों-फूलों का उगना
बन्द था,

पंचम स्वर तक पहुँचा हुआ गीत
मन्द था।

बहुत तेज़ गति से
बहनेवाली धारा अब वर्षा की नदी-सदृश
रेती में खोई थी।
फ़सल : कट-कटा कर, सब
ख़तम हो चुकी थी,
जो साधों से बोई थी।

वह ठहरी-ठहरी वय !
निर्मम जड़ता की जय !
बहरी स्थिरता का भय !

लहरों-काँटों-चहारदीवारों :
अवरोधों-कुंठा-सीमा-भारों :
का दुर्जर घेरा था।

यह था : जो मेरा था !
इसीलिए घेरा तोड़ा मैंने,
जो 'मेरा' था : वह छोड़ा मैंने !

नई धवलगात रात,
नवल ज्योति-स्नात प्रात,
जाग्रत जीवन, कलरव,
नए जगत, नव अनुभव,
भिन्न दृश्य, पथ, चित्रों,
स्नेही-निश्छल मित्रों
के लिए प्रतीक्षा की।
इनसे फिर दीक्षा ली।

वर्ष नया

कुछ देर अजब पानी बरसा।
बिजली तड़पी, कौंधा लपका।
फिर घुटा-घुटा-सा,
घिरा-घिरा
हो गया गगन का उत्तर-पूरब तरफ़ सिरा।

बादल जब पानी बरसाए,
तो दिखते हैं जो,
वे सारे के सारे दृश्य नज़र आए।
छप्-छप्, लप्-लप्,
टिप्-टिप्, दिप्-दिप्,—
ये भी क्या ध्वनियाँ होती हैं!!
सड़कों पर जमा हुए पानी में यहाँ-वहाँ,
बिजली के बल्बों की रोशनियाँ झाँक-झाँक,
सौ-सौ खंडों में टूट-फूट कर रोती हैं!

यह बहुत देर तक हुआ किया...

फिर चुपके से मौसम बदला।
तब धीरे-से सबने देखा—
हर चीज़ धुली,
हर बात खुली-सी लगती है
जैसे ही पानी निकल गया!

यह जो आया है वर्ष नया ! –
	वह इसी तरह से खुला हुआ,
	वह इसी तरह का धुला हुआ
	बनकर छाए सबके मन में,
	लहराए सबके जीवन में !

दे सकते हो ?
–दो यही दुआ !

कभी पहले भी

सूनी साँझ, रँगी पगडंडी,
डूबा-डूबा-सा सूरज,
सभी दूसरे पेड़ों से कुछ अलग
नीम ऊँची-तिरछी।

अरे!
यहाँ तो पहले भी मैं आया हूँ।

यही साँझ, ये ही पगडंडी,
यही सूर्य, यह वृक्ष अकेला...

मुझको यह सब कितना परिचित!
निश्चय ही मैं यहाँ कभी पहले भी
आया हूँ!

ठीक यहीं पर, इसी डगर पर,
इसी अकेले वृक्ष-तले
आया हूँ!

पहले कभी,
यहाँ, निश्चय ही आया हूँ!

एक बच्ची की स्मृति

सारे के सारे तुम्हारे रहस्य,
वे सब जो मुझको तुम
बताती थीं अवश्य।
मुझमें सुरक्षित हैं।

: चपल चरण धरते हुए दौड़कर जाना,
और सखियों से कह आना—
'देखो, तुम मत आना,
आज रात परियाँ आएँगी।—
घर के पीछे फुलवारी में।...
मिलने को उनसे मन बहुत करे तो ?
—तो चुपके से किसी एक झुरमुट में छिप जाना।'...

आज तुम नहीं हो, पर—
परियों के आने की,
रात ढले गाने की
जो कथा सुनाई थी तुमने, वह
भुला नहीं पाया हूँ।
तब जो केवल कौतुकमात्र जान पड़ती थीं—
उन्हीं, तुम्हारी परियों के घर मैं हो आया हूँ।

इसीलिए तो, ये—
सड़कों-चौराहों पर उड़ती-फिरती परियाँ,
रागभरी, रंगभरी, मनमोहक किन्नरियाँ—
कितनी झूठी लगतीं, कैसी जूठी लगतीं।

बैंक के बड़े खाते, रुपए तिजोरी के,
नए-नए नोट, खनन-खन-खन-खन ध्वनियाँ !
मेरा मन इनमें, बोलो, कैसे रमता ?
मुझको आकर्षित क्यों करें,
भाव तृष्णा के मुझमें क्यों भरे,
तुच्छ जान क्यों न पड़ें ?
अरे, मेरे वैभव से इनकी कोई समता ?

: मिट्टी के गोलक में खनक रहे कुछ पैसे,
मोती रंगीन और पन्नी का ढेर।
अलमारी के ऊपरवाले दो खानों में
ग्वालिनें, सिपाही, और गैया, औ' शेर।
कितनी संपत्ति ! !
अरे, कितना ही अर्थ दे गई हो तुम !

फिर भी, मैं कभी-कभी
राजपथों-महलों से कतराकर
टूटे-फूटे-कच्चे घरों औ' घिरौंदों में
झाँक-झाँक आता हूँ।
सूनी पगडंडी पर टकटकी लगाता हूँ।
खोजता, पुकारता, बुलाता हूँ, गाता हूँ।

एक इसी आशा से–
शायद तुम यहीं कहीं झुरमुट में छिपी हुई हो–
वापस आ जाओ।

दो निजी कविताएँ

१

ये जो चेहरे पर खिंची लकीरें हैं...
  ये हँसने से, गाने से,
  गाते रहने से
  अंकित होनेवाली तस्वीरें हैं।

ये जो अपनी वय से ज़्यादा
दिखनेवाले, माथे पर के
टेढ़े-मेढ़े बल हैं–
  ये, वे सारे पल हैं,
  जो हमने बाँट दिए,
  या आँखों-आँखों में ही
  रखकर काट दिए !
सबकी निगाह में 'बोझ'–
वही तो मेरे संबल हैं।
जो माथे पर टेढ़े-मेढ़े, आड़े-तिरछे
बल हैं !

२

पहले ही जैसी शान्त-सहज
जिज्ञासा आँखों में।
'जो व्यक्त नहीं की गई'––
ख़ुशी कुछ ऐसी होंठों पर।

सब कुछ तो बदल गया

पर
मुख का भाव नहीं बदला।

संघर्ष, घुटन,
हारी बाज़ी, लाचारी !
पर
जीवन जीने का चाव नहीं बदला।

सब कुछ तो बदल गया
पर मुख का भाव . . . ।

ग्रीनरूम

जहाँ पर इन्द्रधनुष पहले-पहले बनते,
जहाँ पर मेघ परस्पर परामर्श करते कि
कैसा रूप धरें जो त्रिभुवन-मोहन हो !
जहाँ से दृश्य नए खुलते—
वहाँ तक जाकर मैं रुक गया।

याद अब भी मुझको वह रात,
बहुत दिन पहले की यह बात . . .
एक नाटक होते देखा :
और अभिनय की हर रेखा
मुझे रँगती-सी चली गई।
बहुत उद्विग्न हुआ मैं, और,
—चलूँ अब किसी दूसरे ठौर—
सोचकर, उठा और चल दिया।

अचानक वहीं पार्श्व में दिखा
द्वार, जिसपर 'सज्जागृह' लिखा।
झाँककर मैं भी देखूँ इसे ?—
ज्ञात था किसे !
कि
श्री की होगी ऐसी राह !
रँगे जाते थे चेहरे !
आह !

जान मैं गया,
जान मैं गया कि :
मुद्रा, अंग-भंगिमा,
गति, लय, भावावेग,
हास उन्मुक्त, और उद्वेग–
सभी की रचना का यह केन्द्र !
सभी 'अभिनय' का पहला स्रोत !

तभीसे कुछ ऐसा हो गया
कि हर सज्जागृह के
दरवाज़े से ही
मैं वापस आ गया !

जहाँ पर रंग और आकार पुष्प पाते,
जहाँ से स्वप्न सुहाने पलकों पर आते,
वहाँ तक जाकर मैं थम गया !

नहीं सोचा–'रहस्य को करूँ अनावृत, नग्न।'
नहीं चाहा–'सुन्दरता को यों कर दूँ भग्न।'
और
इस उलझी-सुलझी यात्रा का
था जहाँ आख़िरी ठौर :
वहाँ तक पहुँचा–
मुड़ आया।

कलाकृति, आत्मविस्मृति और प्रकृति

कलाकृति

चित्रों में अंकित
पथ, कानन,
सरिताएँ, सागर, भू, नभ, घन
लिपि में बँधे हुए,
शब्दों में वर्णित
मैंने देखे।

मुझे दिखा, मानो
नदियाँ यों तो बहती हैं
मैदानों में, दूर घाटियों में,
पर उनकी आत्मा रहती है
कागज़ पर अंकित चित्रों में।
अनुपम, अद्भुत चित्रों में।
मुझे लगा, मानो
दो क्षण रहनेवाली संध्या
बेशक 'थी'
और अभी आगे 'होगी',
किन्तु अमरता और मधुरिमा उसकी ?
—बस कविताओं में।
: "दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
संध्या-सुंदरी परी-सी . . ."

इसीलिए वे हरे, लाल, नीले रंगों से
चित्रफलक पर रँगे हुए
वन, उत्पल, या आकाश
मुझे विह्वल कर देते थे।
बन्धु ! वे सरल-तरल-मंजुल शैली में कहे गए
उपवन, निर्झर, वातास
मुझे चंचल कर देते थे।

इन सबमें रम जाता था
मैं।
इसीलिए तो
जहाँ-जहाँ भी दीख पड़ी रचना—
कृति, अनुकृति—
वहाँ-वहाँ थम जाता था
मैं।

आत्मविस्मृति

पर्वतश्रेणी।
शीत हवाएँ।
कोहरे-पाले,
रूई के गाले-सी हिम
से ढँका, मुँदा वह पर्वत-देश।

श्वेत शिलाएँ,
श्वेत वनस्पति !
श्वेत शृंग—
जिनको आकांक्षा छूती धर जलधर का वेश।

उन्हीं उच्च लक्ष्यों पर
बढ़ती हुई एक कोई छाया,

ऊपर ही ऊपर को
चढ़ती हुई एक कोई काया।
—पर्वतआरोही की काया !

वह पर्वतआरोही !
मैं हूँ !
अविजित जो ! उस ऊँचाई का द्रोही !
मैं हूँ।

मैं हूँ जो
मैदान, नदी, टीले, कछार, घाटियाँ पारकर
आया हूँ !
ऊँचे पर्वत की चोटी छूने को आया हूँ।

(:आर्टगैलरी में पर्वत का चित्र देखकर आया था,
उस क्षण मेरे मन में ऐसा अद्भुत भाव समाया था।)

प्रकृति

उजड़ा, अन्तहीन पथ !—
जिसपर कोई कभी नहीं भटका था।
मैं जब उसपर चला,
मुझे मालूम हुआ—
कुशनों-क़ालीनों के फूलों पर चलना,
गुलदानों में लगे गुलाबों से
अपने मन को छलना !
होगा !
कुछ तो होगा ही !

पर उस सबसे यह भिन्न।

यही इस वन-पथ पर
खोया-खोया रह।
बिना किसी उद्देश्य भटकना।

हर नन्हे जंगली पुष्प पर
काफ़ी-काफ़ी देर
अटकना।

पुनरावृत्तियाँ

१

(रात के पिछले पहर में
स्वप्न टूटा।
दीप की लौ आख़िरी-सा
उस समय था
भोर का तारा टिमकता।
चाँद की टूटी लहर में
तैरती-सी दिख गईं अरुणाभ किरनें . . .)
—बार-बार मैंने यह सोचा :
चलो, आज से नई ज़िंदगी शुरू हुई ।
एक लड़ाई लड़ी, ख़तम की
और एक मंज़िल पाई।
आगे की मंज़िल, पहले की मंज़िल से
है कुछ तो भिन्न।
भिन्न, और शायद विच्छिन्न।
तबसे बीत गए कितने ही लंबे-आड़े-तिरछे वर्ष।
मीठे-कड़वे-तीखे वर्ष।

लेकिन पाता हूँ—
अब भी हैं : वही, वही, वे ही संघर्ष।
जो पहले था, वही आज है—
वही स्वप्न, वे ही आदर्श।

२

(हाय ! कैसी थी कहानी !
अश्रु के भीगे कणों से,

प्यार के मीठे क्षणों से रची
वह कैसी कहानी !
कौन जाने कब सुनी थी,
कहाँ की थी, और किसकी ?
किन्तु अब भी बची
वह कैसी कहानी ? . . .)
—कितनी बार किया यह निश्चय :
अब किताब को पढ़कर रोना ख़त्म हुआ।
एक उम्र थी : नहीं रही।
अब किताब को पढ़कर सिर्फ़ विचारेंगे,
बिसरा देंगे ज़्यादातर, थोड़ा-सा मन में धारेंगे।
लेकिन यह सब नहीं हुआ।
उसको 'कृत्रिम' कहा अगर,
'यह' ज़्यादा कृत्रिम जान पड़ा।
सहज बनूँ कैसे ?
उधेड़बुन यही शुरू से थी :
अब भी।

३

(कितनी अकेली राह थी,
कैसा अकेला साथ था।
बेहद थके, डगमग क़दम !
लेकिन
कहाँ वह हाथ था—
जो बढ़े आगे, थाम ले। . . .)
—हुआ नहीं कोई भी अपना।
नहीं टूटता पर वह सपना।
बार-बार जो सोच रहे थे हम
कि अकेले ही रह लेंगे।
चलो, अकेले ही रह लेंगे।

बार-बार वह झूठा निकला :
एक न एक चाँद मुस्काया किया,
ज्वार बनकर मैं उमड़ा।
उमड़ा—वापस आया—उमड़ा।

४

(राग का जादू हिरन पर छा गया।
वह कुलाँचें मारनेवाला
खिंचा-सा आ गया...)
—कई बार यह हुआ कि
अब संगीत सुनेंगे कभी नहीं।
मोहक जो संगीत कहाता : मुझको
सिर्फ़ उबाता है।
गहराई से खींच, धरातल पर मुझको
ले आता है।
लेकिन जब भी, जब भी
काँपे थरथर-थरथर तार,
और उमड़ी-लहराई स्वर की करुणा-धार
काँपने लगे होंठ हर बार,
धड़कने लगे प्राण के तार।

५

(एक घर था
और उसके द्वार में ताला जड़ा था।
बन्द घर को कौन खोले !
स्तब्धता में कौन बोले ! ...)
—ऊँचे शिखरों के प्रति मेरी वृहत कल्पना
बार-बार रह गई सिर्फ़ टेढ़ी-मेढ़ी, सँकरी गलियों तक
इनसे बाहर हटकर, उठकर
किसी अपरिचित ऊँचाई तक जाने की

जो साध बड़ी थी,
उसके आगे एक अजब दीवार...

१

...एक बार का सोचा-समझा
बार-बार क्यों सच लगता ?
बीच-बीच में 'झूठ' समझकर भी
क्यों उसमें मन रमता !
आज : 'झूठ', कल : 'सच' दिखनेवाली माया का अन्त कहाँ ?

२

स्वप्न वहाँ हैं
और यहाँ पर परिणति है।
कृत्रिम उधर
और आवेगों की क्यों इधर अपरिमिति है ?

३

कौन कहाँ से आया
इसका तो है कुछ आभास नहीं।
एक मुझीमें इतना सब कुछ था
यह भी विश्वास नहीं।

४

क्यों दुहराया तुमने उसको,
कहो, उसे क्यों दुहराया ?
भूल नहीं पाए क्यों इसको ?
भूलो ! अब तो भूलो सब।

५

जो दीवारें थीं लोहे की, ...
वे दीवारें हैं लोहे की।
जैसी थीं वे, वैसी ही हैं।
—ऊँचे शिखर किन्तु अब उतने ऊँचे नहीं रहे।
पुनरावर्तन, प्रत्यावर्तन किसने नहीं सहा !

लेकिन
लौटे हुए व्यक्ति के लिए
शिखर तक जाना
उतना दुर्लभ नहीं रहा।

आओ हम फिर से जिएँ

आओ, हम फिर से जिएँ !

बहता-बहता मेघखंड जो
पहुँच गया है वहाँ क्षितिज तक. . .
लौट लाएँ उसे,
कहें :
'ओ, फिर से बहो !
मन्द, मन्थर, मृदु गति से. . .
शोभावाही मेघ, रसीले मेघ, दूत !
जो कथा कही थी, फिर से कहो !'

और. . .
अपलक, अविचल
हम उसे निरखते रहें, सुनें !

आओ, हम फिर से जिएँ !